

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

दिसम्बर : १९५६



वर्ष बारहवाँ



अंक : ८



: संपादक :

रामजी माणेकचंद दोशी वकील



अहो... मेरा आनन्द धाम!

जगत के जीवों ने—दुनियाँ कैसे सन्तुष्ट हो, उसे कैसे अच्छा लगे—ऐसा तो अनन्तबार किया है, किंतु मैं आत्मा वास्तविक रीति से संतुष्ट होऊँ और मेरे आत्मा को सचमुच क्या रुचिकर है—उसका कभी विचार भी नहीं किया। जिसे आत्मा को सचमुच सन्तुष्ट करने की अभिलाषा जागृत हुई है, वह उसे संतुष्ट करके ही रहेगा और उसे संतुष्ट होना—‘आनन्दधाम’ में पहुँचना ही होगा।

[—पूज्य बहिन श्री बहिन लिखित-समयसार प्रवचनों से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१४०]

एक अंक
चार आना

निवेदन—गत २ वर्षों से आत्मधर्म के समय पर प्रकाशन में जो असुविधायें आईं उनके लिए हम आप सज्जनों के निकट क्षमाप्रार्थी हैं, अब यह पत्र कमल प्रिंटर्स मदनगंज (किशनगढ़) से समय पर प्रकाशित हुआ करेगा।

—व्यवस्थापक

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ [सौराष्ट्र]

मोक्ष का कारण

अन्तर्मुख ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, पुण्यपरिणाम मोक्ष का कारण नहीं है।

जिसे अन्तर के ज्ञानस्वरूप की खबर नहीं है और जिसका ज्ञान, परमार्थ स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं हुआ है—ऐसे अज्ञानी को व्रत, नियम, शील, तपादि के शुभ परिणाम होने पर भी उसके मोक्षमार्ग का अभाव है—इसलिये पुण्यपरिणाम, मोक्ष का कारण नहीं है।

और जिसे अंतर के ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा है, जिसका ज्ञान, परमार्थ-स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ है—ऐसे ज्ञानी को ज्ञानस्वरूप की एकाग्रता में व्रत, नियम, शील, तपादि के शुभपरिणाम न होने पर भी, मोक्षमार्ग का सद्भाव है; इसलिये ज्ञानस्वरूप में एकाग्रता ही मोक्ष का कारण है, पुण्यपरिणाम मोक्ष का कारण नहीं है। बीच में शुभाशुभ परिणाम आते हैं, उसे हेय-ज्ञेय और अहितरूप समझता है, तो शुभराग को उपचारमात्र कारण कहते हैं, परन्तु अज्ञानी या ज्ञानी किसी को भी पुण्य, मोक्ष का कारण नहीं है। [—प्रवचन से]

‘लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका’

[दूसरी आवृत्ति]

यह एक विशिष्ट, अत्यावश्यक, स्वाध्याय तथा प्रचार
योग्य तत्त्वज्ञान प्रवेशिका है, शास्त्राधार सहित
उत्तम और सुगम कथन है, मुमुक्षुजन
अवश्य स्वाध्याय करें।

पत्र संख्या १०५ मूल्य ०-३-०

पोस्टेज अलग

पता—

जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)





आत्मधर्म



दिसम्बर : १९५६



वर्ष बारहवाँ



अंक : ८

कारणशुद्धपर्याय

**‘शुद्धकारण’ के आश्रय से होनेवाला
सादि-अनंत मंगलरूप कार्य**

[नियमसार गाथा १० के प्रवचन - १३७ अंक से आगे]

‘कारण’ तो सदैव शुद्ध रूप से वर्तता है; किन्तु उस कारण का अवलंबन लेकर जहाँ शुद्ध कार्य हुआ, वहाँ खबर पड़ी कि अहो! मेरा शुद्धकारण तो यह है! ‘कारण’ का अवलंबन लेनेवाला जगृत हुआ—अर्थात् कार्य हुआ—तब कारण की महिमा ज्ञात हुई और उसे कारण के साथ कार्य की अपूर्व संधि हुई।

यह आत्महित की अमृत समान बात है।

हे जीव! अपने धर्म का कारण तो तुझमें सदैव विद्यमान है, किन्तु तू उसे कारण नहीं बनाता... कारण में अन्तर्मुख होकर कार्य प्रगट करे, तब ऐसा लगे कि अहो! यह मेरे कार्य का कारण! कार्य का कारण दूसरा कोई नहीं है। कारण के अवलंबन से निर्मल कार्य प्रगट हो, तभी कारण का कारणपना सफल होता है।

[—पूज्य गुरुदेव]

देखो, एक दूसरी बात! सिद्ध पर्याय जगत में सामान्यरूप से अनादि-अनंत है, साधक पर्याय भी जगत में अनादि-अनंत है और संसारपर्याय भी अनादि-अनंत है, उसीप्रकार कारणशुद्धपर्याय प्रत्येक जीव को सदृशरूप से अनादि-अनंत है; जीव को कभी उसका विरह नहीं है। सिद्धदशा सामान्यरूप से जगत में अनादि-अनंत होने पर भी एक जीव की अपेक्षा से वह नई

प्रगट होती है; उसीप्रकार यह कारणशुद्धपर्याय कहीं नई प्रगट नहीं होती; उसका भान करनेवाले जीव को सम्यग्दर्शनादि कार्य नवीन प्रगट होता है।

(१) जिसप्रकार सिद्धपर्याय सामान्यरूप से जगत में अनादि-अनंत है; पहले जगत में सिद्धदशा नहीं थी और पहले पहल नई प्रारम्भ हुई—ऐसा कदापि नहीं है। एक जीव की अपेक्षा से सिद्धदशा नई प्रारम्भ होती है, इसलिये सादि-अनंत है; किन्तु जगत में कहीं सिद्धदशा का नया प्रारम्भ नहीं हुआ है। 'पहले सिद्ध कौन?' उसका यह उत्तर है कि जगत में सिद्ध अनादि से ही हैं। इसलिये सामान्यतः सिद्धपर्याय जगत में अनादि-अनंत है।

(२) जिसप्रकार सिद्धपर्याय जगत में अनादि-अनंत है, उसीप्रकार उसके साधनरूप मोक्षमार्ग भी अनादि-अनंत है। एक व्यक्ति की अपेक्षा से देखें तो मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नया होता है और उसका अन्त भी आ जाता है, इसलिये वह सादि-सांत है; किन्तु जगत में तो मोक्षमार्ग की साधना करनेवाले जीव अनादिकाल से होते ही आ रहे हैं और अनंतकाल तक होते ही रहेंगे, इसलिये सामान्यरूप से मोक्षमार्ग (साधक-पर्याय) जगत में अनादि-अनंत है, कभी उसका अभाव नहीं है।

(३) और इसीप्रकार संसारपर्याय भी सामान्यतः जगत में अनादि-अनंत है। वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाले को अपने में संसार का अन्त आ जाता है तथा अपनी साधकदशा या सिद्धदशा नई प्रारंभ होती है, इसलिये व्यक्तिगतरूप से संसारपर्याय 'अनादि-सांत' है, किन्तु जगत में तो संसार-पर्यायवाले जीव अनादि-अनंत रहने ही वाले हैं।

इसप्रकार मोक्ष, मोक्षमार्ग और संसार—यह तीनों प्रकार की पर्यायें जगत में सामान्यरूप से अनादि-अनंत वर्त रही हैं। अब, हमें तो यहाँ 'कारणशुद्धपर्याय' का अनादि-अनंतपना बतलाना है।

(४) जिसप्रकार मोक्ष, मोक्षमार्ग और संसार—यह तीनों विशेष पर्यायें जगत में 'सामान्यरूप से अनादि-अनंत' वर्त रही हैं, उसीप्रकार यह 'कारणशुद्धपर्याय' प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत वर्तती है और संसार-मोक्षरूप विशेष पर्यायों की अपेक्षा से वह 'सामान्य' है। वह प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत सदृशरूप से वर्तती है।

—जगत में जीव वस्तु अनादि-अनंत।

—उसका चैतन्य गुण अनादि-अनंत।

—शुद्ध सिद्धपर्याय सामान्यतः (सर्व जीवों की अपेक्षा से) अनादि-अनंत हैं।

—साधक पर्याय सामान्यतः अनादि-अनंत है।

—संसारपर्याय सामान्यतः अनादि-अनंत है।

उसीप्रकार यह कारणशुद्धपरिणति प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत है। सिद्धपरिणति जगत में अनादि-अनंत प्रगट है, जबकि कारणशुद्धपरिणति प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत विद्यमान है। आत्मा के परम स्वभाव की अपेक्षा से वह 'विशेष परिणति' है, किन्तु औदयिकादि चार भावों की अपेक्षा से वह सामान्य है।

एक ओर देखें तो जगत में सिद्ध, साधक और संसार पर्यायें अनादि-अनंत वर्त ही रही हैं; जबकि दूसरी ओर देखें तो आत्मा में शुद्ध द्रव्य, शुद्ध गुण तथा शुद्ध परिणति (कारणशुद्धपर्याय) तीनों अभेदरूप से अनादि-अनंत वर्त ही रहे हैं।

जगत में सिद्धदशारूपी शुद्धकार्य अनादि-अनंत है तो उस शुद्ध कार्य का शुद्ध कारण भी प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत विद्यमान ही है। उसका कारण की शुद्धता का भान करने पर उसके आश्रय से साधकदशा और सिद्धदशा रूपी निर्मल कार्य प्रगट हो जाता है।

व्यक्ति अपेक्षा से अर्थात् एक मोक्षगामी जीव की अपेक्षा से—

संसार पर्याय अनादि-सांत,

मोक्षमार्ग पर्याय सादि-सांत,

मोक्ष पर्याय सादि-अनंत,

—इसप्रकार पर्याय के तीन प्रकार पड़ते हैं। किन्तु सामान्यरूप से अर्थात् सर्व जीवों की अपेक्षा से तो वे तीनों प्रकार की पर्यायें जगत में अनादि-अनंत हैं। कार्यपर्याय का इसप्रकार अनादि-अनंतपना है, तो उसके साथ कारणशुद्धपर्याय का भी अनादि-अनंततनय प्रत्येक जीव में है—वह यहाँ बतलाना है।

'कारण' तो सदैव शुद्धरूप से वर्तता है किन्तु उस कारण का अवलम्बन लेकर जहाँ शुद्धकार्य होता हो, वहाँ खबर पड़ी कि अहो! मेरा कारण तो यह है! कारण का अवलम्बन लेनेवाला जागा—अर्थात् कार्य प्रगट हुआ, तब कारण की महिमा की खबर पड़ी और उसने कारण के साथ कार्य की अपूर्व संधि की।

'कारण अपेक्षा से शुद्धता' तो प्रत्येक व्यक्ति को अनादि-अनंत वर्तती है, किन्तु कार्य में शुद्धता नई करना है। जगत में सामान्यरूप से शुद्ध कार्य अनादि-अनंत वर्तता है, किन्तु व्यक्ति

अपेक्षा से अपने को शुद्धकार्य नया करना है। 'कार्य' तो नया करना है, इसलिये प्रत्येक जीव में वह अनादि-अनंत नहीं हो सकता। यदि कार्य अनादि-अनंत शुद्ध हो तो फिर करना क्या रहा ? कारण सदैव शुद्ध है, उसका भान करके उसके आश्रय से शुद्धकार्य (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) प्रगट करना, वह मोक्षमार्ग है।

'नियमसार' वह शुद्धपर्याय है; उस पर्याय के समक्ष उसके शुद्ध कारणरूप से यहाँ कारणशुद्धपर्याय बतलाना है। 'नियम' कहने से मोक्षमार्गरूपी कार्य, उसका साक्षात्-सीधा-निकट का कारण कौन—वह यहाँ बतलाना है।

जगत में सर्व प्रथम किस जीव ने मोक्ष प्राप्त किया ?

—मोक्ष अनादि से ही जगत में है।

सर्व प्रथम मोक्षमार्ग की साधना किसने की ?

—मोक्षमार्ग जगत में अनादि से ही है।

संसार में सबसे पहला भव कौन सा ?

—संसार अनादि से ही है।

जैसे यह तीनों प्रकार सामान्यरूप से अनादि-अनंत हैं, उसीप्रकार द्रव्य-गुण की त्रिकाली शक्ति के साथ उसके सदृशवर्तमान रूप कारणशुद्धपरिणति भी अनादि-अनंत सामान्यरूप है। जिसप्रकार उपरोक्त तीन बोल (मोक्ष, मोक्षमार्ग, संसार) सामान्य किये, उसीप्रकार यहाँ द्रव्य, गुण और उनकी कारणशुद्धपरिणति—यह तीनों अभेदरूप से अनादि-अनंत सामान्य एकरूप हैं। उनमें अन्तर इतना है कि ऊपर के तीन बोल तो जगत में सामान्यरूप से हैं और यह तीन बोल प्रत्येक जीव में सामान्यरूप से अनादि-अनंत हैं। संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष यह विशेष पर्यायें हैं।

त्रिकाली द्रव्य-गुण, वह सामान्य ध्रुव, और उसका सदृशरूप वर्तमान, वह विशेष ध्रुव; ऐसे द्रव्य-गुण और उनका सदृश वर्तमान, यह तीनों अभेदरूप से द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं, वे सामान्य हैं; प्रत्येक जीव को अनादि-अनंत पारिणामिकस्वभाव से वर्त रहे हैं। जगत में ऐसा कोई जीव नहीं है कि जिसके शुद्ध द्रव्य-गुण और उनकी ध्रुवकारणरूप सदृश परिणति न हो।

केवलज्ञान जगत में कब नहीं है ? अनादि-अनंत है और उस केवलज्ञान का 'कारण' प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत है; उसका यहाँ कारणस्वभावज्ञान-उपयोग कहकर वर्णन किया है।

ज्ञान-उपयोग के दो प्रकार कहे हैं—एक स्वभावरूप और दूसरा विभावरूप।

- कुमति आदि एकान्त विभावज्ञान जगत में अनादि-अनंत हैं।
- सम्यक् मतिश्रुतादि ज्ञान भी जगत में अनादि-अनंत हैं।
- केवलज्ञान वह स्वभावज्ञान है, वह भी अनादि-अनंत हैं।
- केवलज्ञान के कारणरूप स्वभावज्ञान भी अनादि-अनंत है।

जिसप्रकार 'परमार्थ वचनिका' में कहा था कि विकार की परम्परारूप आगमपद्धति और शुद्ध चेतना परिणति की परम्परारूप अध्यात्मपद्धति—यह दोनों धाराएँ जीव में अनादि से चली आती हैं; उनमें से शुद्धता की धारा को (कारणशुद्धपर्याय को) कारणरूप में स्वीकार करने पर मोक्षमार्ग प्रारंभ हो जाता है और आगम-पद्धति छूटती जाती है।

उसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि आत्मा में कारणरूप स्वभावज्ञान अनादि से चला आ रहा है और विभावज्ञान भी अनादि से वर्त रहा है। उसमें से स्वभावज्ञान को कारणरूप से स्वीकार करके जहाँ उसका अवलम्बन लिया, वहाँ केवलज्ञान विकसित हो जाता है और विभावज्ञान छूट जाता है। 'कारणस्वभावज्ञान' कहकर केवलज्ञान का आधार बतलाया है। कारणस्वभावज्ञान सर्व जीवों को अनादि-अनंत है, किन्तु उस कारण की ओर अपना उपयोग उन्मुख करके एकाग्र हो, तभी उसका कार्य प्रगट होता है और उसी जीव को कारण की सच्ची महिमा समझ में आती है।

महत्वपूर्ण

'कारणशुद्धपरिणति' कहने से उसमें त्रिकाली गुण और द्रव्य अभेद ही हैं, उन सबका एक साथ ही आलम्बन है। उस अभेद के अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ करके सिद्धदशा तक के निर्मलभाव प्रगट होते हैं 'कारण' तो त्रिकाल शुद्धरूप से वर्तता ही है, किन्तु उसे कारण बनानेवाला कार्य वर्तमान नवीन प्रगट होता है। 'कारण' को कारणरूप से स्वीकार किसने किया? स्वीकार करनेवाला तो कार्य है और वही मोक्षमार्ग है। यह मोक्षमार्गरूपी कार्य सामान्यरूप से जगत में अनादि-अनंत होने पर भी व्यक्तिगतरूप से वह कार्य नया होता है। 'कारण' प्रत्येक जीव में अनादि-अनंत है किन्तु उस कारण को अंगीकार करके कार्य नया होता है; क्योंकि कारण बनानेवाला कार्य नया होता है। कारण को कारणरूप से स्वीकार करने पर शुद्ध कार्य होता है। जहाँ ऐसा अपूर्व कार्य हुआ, वहाँ कारण का भान नया प्रगट हुआ; और खबर पड़ी की ओहो! मुझमें ऐसा कारण तो पहले भी था किन्तु मुझे उसका भान नहीं था, इसलिये कार्य प्रगट नहीं हुआ।

देखो, यह बड़ी सरस और मूलभूत बात है; अमृत-समान मीठी बात है। आत्मा में मोक्षमार्गरूपी कार्य कैसे हो, उसकी यह बात है।

द्रव्य-गुण और उसकी कारणशुद्धपरिणति वह सब अभेद है। उस अभेद के साथ अभेदता करनेवाला कार्य जगृत हो, तब उसे कारण का ख्याल आता है। ख्याल नहीं था, तब भी उसके 'कारण' तो विद्यमान ही था, किन्तु उस कारण को कारण बनानेवाला कार्य नहीं था; उसे स्वयं को शुद्ध कारण के अस्तित्व की खबर नहीं थी; इसलिये शुद्धकार्य के बदले अशुद्धकार्य होता था। अभेद के अवलम्बन से शुद्धकार्य (सम्यग्दर्शनादि) प्रगट किया, वहाँ इस कारण का सच्चा ख्याल आया। सम्यग्दर्शन लो, या केवलज्ञान लो—उन सब शुद्धकार्यों का मूल कारण क्या है, वह यहाँ अलौकिक ढंग से बतलाया है।

❀ तीसरी गाथा में कार्यानियम और कारणनियम की बात की।

❀ सातवीं गाथा में कार्यपरमात्मा के साथ कारणपरमात्मा की बात की।

❀ नववीं गाथा में कार्यशुद्धजीव तथा कारणशुद्धजीव की बात की।

❀ दसवीं गाथा में कार्यस्वभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान की बात की।

—इसप्रकार कार्य के साथ उसके आधारभूत कारण भी साथ ही साथ बतलाते जाते हैं।

पर्याय में जिसने केवलज्ञान प्रगट किया, वह कार्यशुद्धजीव हुआ; वही कार्यपरमात्मा है। उसके पहले साधकदशा में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय है, वह मोक्षमार्गरूप कार्य है, वह नियम से कर्तव्य है अर्थात् 'कार्यानियम' है। मोक्षमार्ग की पर्याय को 'कार्यानियम' कहा किन्तु 'कार्यशुद्धजीव' नहीं कहा। कार्यशुद्धजीव अथवा कार्यपरमात्मा तो पूर्ण पर्याय प्रगट हो, तभी कहलाता है। तथापि वह साधकपर्याय या पूर्ण पर्याय—इन दोनों का आधार तो एक ही है। द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपरिणति के अभेद पिण्डरूप आत्मा का अवलम्बन लेने से शुद्धपर्याय होती है, कारणस्वभाव की ओर अपूर्ण उन्मुखतावाला साधकभाव, वह मोक्षमार्ग (कार्यानियम) है और कारणस्वभाव के साथ पूर्ण एकतारूप साध्यभाव प्रगट हो गया, वह कार्यशुद्धजीव है। 'कार्यानियम' और कार्यशुद्धजीव में इतना अन्तर है, किन्तु उसके आधाररूपकारणस्वभाव तो एक ही है; सम्यग्दर्शन का आधार दूसरा तथा केवलज्ञान का दूसरा—ऐसा नहीं है। सभी को आलम्बन तो एक स्वभाव का ही है, उस स्वभाव का अपूर्ण आलम्बन वह साधकदशा और पूर्ण आलम्बन, सो मोक्षदशा।

आत्मा के पारिणामिकस्वभावरूप वर्तता हुआ कारणशुद्ध उपयोग त्रिकाल निरुपाधि स्वरूप है; उसे निमित्त के सद्भाव की या अभाव की अपेक्षा नहीं है। केवलज्ञान में कर्मक्षय की अपेक्षा है, किन्तु इस कारणस्वभावज्ञान को 'कर्म के क्षय से प्रगट हुआ'—ऐसी अपेक्षा नहीं है; वह तो उपाधिरहित सहज है; आत्मा के द्रव्य-गुण के साथ त्रिकाल अभेदरूप से वर्तता है।

केवलज्ञान प्रगट होने के पश्चात् उसमें किंचित् भी अशुद्धता या आवरण नहीं है; इसलिये उसे भी उपाधिरहित तथा स्वभावज्ञान कहा जाता है। और कारणस्वभावज्ञान तो त्रिकाल कर्मोपाधिरहित, एकरूप पारिणामिकस्वभाव से वर्तता है; कर्म की उपस्थिति के समय भी वह तो सहज निरुपाधिक है। विभावज्ञान के अभाव की अपेक्षा से केवलज्ञान को स्वभावज्ञान कहा है और पाँच भावों के वर्णन में परमपारिणामिकस्वभाव की अपेक्षा से औदयिकादि चारों भावों को विभावस्वभाव कहे हैं।—इसप्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से जहाँ जो तात्पर्य हो, वह समझना चाहिये। मोक्षशास्त्र अध्याय २, के प्रथम सूत्र में औपशमिक आदि पाँचों भावों को जीव का स्वतत्त्व कहा है, जबकि इस नियमसार में कहते हैं कि परमपारिणामिकभाव के अतिरिक्त चारों भाव विभाव हैं; क्षायिकभाव भी विभाव है।—तो क्या इन दो मुनिवरों के कथन में परस्पर विरुद्धता है?—बिलकुल नहीं, मोक्षशास्त्र में तो जीव के भाव कौन-कौन से हैं, वह बतलाने का प्रयोजन है, और यहाँ पाँच भावों में कौन-सा भाव आश्रय करने योग्य है—यह बतलाने का प्रयोजन है। क्षायिकभाव स्वयं कहीं विभाव नहीं है, वह तो शुद्ध है, किन्तु अंश है, उस क्षायिकभावरूप पर्याय का आश्रय लेते हुए विकार की उत्पत्ति होती है। परमपारिणामिकस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं, इसलिये उसी का आश्रय लेने योग्य है।

यह आत्मा के स्वभाव का वर्णन है। भाई, तेरा आत्मा ऐसे ही स्वभाववाला है; ऐसे स्वभाव को जानकर उसमें अन्तर्मुख हो तो तुझे धर्म होगा। धर्म के लिये अपने आत्मस्वभाव के अतिरिक्त तुझे अन्य किसी का आधार नहीं है। द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपरिणति सदृशयप से त्रिकाल ध्रुव है, वह तेरे धर्म का त्रिकाली कारण है। ऐसा कारण तो तुझमें सदैव विद्यमान है ही, किन्तु तू उसे कारण नहीं बनाता (उसका अवलम्बन नहीं लेता), इसलिये धर्म नहीं होता। कारण तो है, किन्तु उसे कारण बनानेवाला तो कार्य है। कारण में अन्तर्मुख होकर कार्य प्रगट करे, तब ऐसा हो कि 'अहो! यह मेरे कार्य का कारण!' कार्य का कारण अन्य कोई नहीं है, यही कारण है; इस कारण का अवलम्बन ले तब निर्मल कार्य प्रगट होता है और तभी कारण का कारणपना सफल होता है।

देखो, यह कारण के साथ कार्य का मेल !! अपनी वर्तमान पर्याय को अभेद कारण के साथ मिलाकर यह बात है। एकदम अंतर का कारण बतलाकर बाह्य कारणों की दृष्टि छुड़ाई है और अंतरस्वभाव का अवलम्बन कराया है।

❀ निमित्त कारणों के आश्रय से कार्य होता है—यह बात तो दूर गई।

❀ रागादि व्यवहारकारणों के आश्रय से कार्य होता है—यह बात भी निकाल दी।

❀ पर्याय के अवलम्बन से निर्मल-पर्यायरूप कार्य होता है—ऐसा भी नहीं है।

❀ भगवान् कारणपरमात्मा अपनी कारणशुद्धपरिणति सहित वर्त रहा है—वही एक कारण है।

—इसप्रकार अभेदस्वभाव को ही कारणरूप से बतलाकर उसका अवलम्बन कराया है और निमित्त का, राग का या पर्याय का—तीनों का अवलम्बन छुड़ाया है। यह एक बात समझे तो बाह्य कारणों के सारे झगड़ों का समाधान हो जाये और बाह्य कारणों की दृष्टि छूटकर अंतरस्वभाव की दृष्टि हुए बिना न रहे। ऐसी अपूर्वदृष्टि प्रगट करनेवाले जीव को बाह्यकारणरूप से कैसे निमित्त होते हैं, वह बात फिर ५३ वीं गाथा में बतलायेंगे। वहाँ निमित्त बतलाने में भी अलौकिक वर्णन करेंगे। टीकाकार का ढंग ही कोई अनोखा है!

यह परमागम के अर्थ हम अपनी कल्पना से नहीं करते; गणधरों और श्रुतधरों की परम्परा से भलीभाँति व्यक्त किये गये अर्थ हमें गुरु परम्परा से प्राप्त हुए हैं—ऐसा कहकर टीकाकार ने इस टीका की रचना की है। इसलिये इस टीका में कहे गये अर्थ गणधरादि गुरुपरम्परा से भलीभाँति प्रगट किये गये हैं; हमें यह अर्थ श्रीगुरुओं के प्रसाद से प्राप्त हुए हैं।

और इस समय इस परमागम के सार की पुष्ट रुचि से हमारा मन पुनः पुनः अत्यन्त प्रेरित होता है; 'इस जगह ऐसा उपयोग और इस जगह ऐसी कारणपरिणति' इसप्रकार इस परमागम के अर्थों का हमारे हृदय में पुनः पुनः मंथन होता है, और इसलिये यह टीका रची जा रही है;—ऐसा कहकर टीका में अलौकिक भाव स्पष्ट किये हैं। कुन्दकुन्द भगवान् ने मूल सूत्रों में अपूर्व रहस्य भर दिया है और अध्यात्म में मस्त महामुनि पद्मप्रभुदेव ने टीका में उसे एकदम स्पष्ट किया है, अपूर्व आत्मस्वभाव बतलाया है।

प्रत्येक आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव है—वह यहाँ बड़ी स्पष्टता से बतलाया है। जिसप्रकार समुद्र में पानी का समूह उसकी शीतलता और उसकी एकसी सतह—इन तीनों से समुद्र ज्यों का

त्यों पड़ा-फैला है; उसमें छोटी-बड़ी तरंगें उठती हैं; उसीप्रकार यह आत्मा चैतन्य का सागर आनन्द का समुद्र है; वह द्रव्य-गुण तथा कारणशुद्धपरिणति से ज्यों का त्यों पड़ा-फैला है... वर्तमान-वर्तमानरूप से वर्त रहा है; वही निर्मलपर्यायें प्रगट होने का कारण है। निर्मलपर्यायरूपी कल्लोल का आधार तो सम्पूर्ण समुद्र है।

जिसप्रकार लैंडी पीपर में चौंसठ पुटी (सोलहों आने परिपूर्ण) चरपराहट भरी है, और उसका वह स्वभाव वर्तमान में भी वर्त रहा है,—प्रगटरूप में भले ही कम चरपराहट हो या अधिक हो; उसीप्रकार आत्मा में तीक्ष्ण... उग्र... परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है:—

द्रव्य सोलह आने परिपूर्ण,
गुण सोलह आने परिपूर्ण,
कारणशुद्धपरिणति सोलह आने परिपूर्ण।

—इसप्रकार आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव है; वर्तमान में भी ऐसा ही स्वभाव है। उस स्वभावकारण में से मोक्षमार्ग एवं मोक्षरूपी कार्य होता है। द्रव्य-गुण, वह सामान्य ध्रुव और उसके साथ की कारणशुद्धपरिणति, वह विशेष ध्रुव—ऐसा वर्णन करके यहाँ एकदम निकट का सीधा कारण बतलाया है। कार्य के साथ का तत्कालीन कारण बतलाया है; कार्य जो केवलज्ञान, उसके कारणरूप से वर्तमान वर्तता हुआ सर्वथा निर्मल अप्रगट कारणस्वभावज्ञान-उपयोग है, वह उपयोग त्रिकाल निरुपाधिक है; द्रव्य-गुण के साथ त्रिकाल पारिणामिकभाव से विद्यमान है; उसी का आगे स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञानरूप से वर्णन करेंगे। ऐसे द्रव्य के साथ त्रिकाल अभेदरूप ऐसा यह सहज उपयोग केवलज्ञान प्रगट होने का कारण है। एकदम अंतर में ध्रुवकारण की यह बात है।

केवलज्ञान प्रगट हो, वह सकल-प्रत्यक्ष है; और उसके कारणरूप जो कारणस्वभावज्ञान है, वह स्वरूप प्रत्यक्ष है। कारणस्वभावज्ञान, वह आधार है, और केवलज्ञान उसके आधार से हुआ कार्य है। यह कारणस्वभावज्ञान उपयोग, वह परिणतिरूप होने पर भी ध्रुव है, प्रगट कार्यरूप नहीं है किन्तु अप्रगट शक्तिरूप है, कारणरूप है। कारणरूप से वह आत्मा में सदैव स्वरूपप्रत्यक्ष वर्तता है।

३ अज्ञान-उपयोग (कुमति आदि)

४ अपूर्ण ज्ञान-उपयोग (सम्यक्मति-श्रुतादि)

३ विभाव दर्शन उपयोग (चक्षुदर्शनादि)

—यह सब विभाव उपयोग हैं; वे सदैव एकरूप नहीं हैं किन्तु विसदृशरूप हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन—यह दो स्वभाव—उपयोग यद्यपि प्रगट होने के पश्चात् सदैव एकरूप रहनेवाले हैं, परन्तु वे भी त्रिकालवर्ती नहीं हैं। आत्मा में इस समय तो उनका विरह है। जबकि यह कारणस्वभाव उपयोग आत्मा के साथ त्रिकाल एकरूप रहनेवाला है, उसका कभी विरह नहीं है; इसलिये वह आत्मा का परमस्वभाव है।

कुमति आदि तीन ज्ञान अनादि—सांत हैं;
सम्यक्मति—श्रुतादि चार ज्ञान सादि—सांत हैं;
केवलज्ञान सादि—अनंत है।

किन्तु उन किन्हीं भी ज्ञानों में अनादि—अनंत एकरूपता नहीं है, विसदृशता है। उससे रहित एक सदृश अनादि—अनंत एकरूप वर्तनेवाला उपयोग है, वह यहाँ बतलाना है।

धर्मास्तिकाय आदि चार रूपी द्रव्यों में सदृश एकरूप परिणति पारिणामिकभावरूप से वर्तती है। तो ज्ञाता ऐसे जीवतत्त्व में सदृशपरिणति कैसी है, वह यहाँ बतलाते हैं। जीव की पर्याय में संसार—मोक्ष हैं, वे तो विसदृश हैं, किन्तु उसके अतिरिक्त एक सदृश—परिणति उत्पाद—व्यय रहित ध्रुवरूप पारिणामिकभाव से वर्त रही है, वह कार्यरूप नहीं है किन्तु कारणरूप है; सदैव शुद्ध है, उपाधि रहित है; और द्रव्य के साथ सदैव अभेदरूप होने से द्रव्यदृष्टि का विषय है। इस निरपेक्ष—परिणति का पन्द्रहवीं गाथा में ‘कारणशुद्धपर्याय’ कहकर सरस रीति से वर्णन करेंगे; वहाँ उसे ‘पूज्य’ कहेंगे।

इस चालू (दसवीं) गाथा में ‘उपयोग’ की सदृशपरिणतिरूप ‘कारणस्वभावज्ञान’ का वर्णन है। कैसा है वह कारणस्वभावज्ञान ?

- ❀ परमपारिणामिकभाव से विद्यमान त्रिकाल निरुपाधिरूप,
- ❀ कारणस्वभावरूप अर्थात् केवलज्ञान के कारणरूप,
- ❀ स्वरूप—प्रत्यक्ष (सकल—प्रत्यक्ष का कारण), सहज,
- ❀ त्रिकाल एकरूप अनादि—अनंत,

—यह सब विशेषण कारणस्वभावज्ञान को लागू होते हैं। केवलज्ञान को भी यह विशेषण लागू नहीं होते। कारणस्वभावज्ञान को ही विशेषण लागू होते हैं, तथापि यह बात है उपयोगपरिणति की।

देखो, यह आत्मा के उपयोग का अद्भुत वर्णन ! इस नियमसार के अतिरिक्त अन्य कहीं ऐसी 'स्पष्ट' बात नहीं आती ।

देखो, कहाँ से प्रारम्भ करके कहाँ तक लाये हैं ?

❀ यह जीव-अधिकार है ।

❀ जीव का 'उपयोग' स्वभाव है ।

❀ उपयोग अर्थात् आत्मा के चैतन्य का अनुसरण करके वर्तते हुए परिणाम ।

❀ उस उपयोग के दो प्रकार—(१) ज्ञान, और (२) दर्शन ।

❀ ज्ञानउपयोग के 'स्वभाव' और 'विभाव'—ऐसे दो प्रकार ।

❀ उनमें से 'कारणस्वभावज्ञान-उपयोग' का यह वर्णन चल रहा है । सात तत्त्वों में से एक जीवतत्त्व में ही इन सर्व प्रकारों का समावेश हो जाता है ।

जीव के चैतन्य का अनुसरण करके वर्तते हुए जो कारणस्वभावरूप ज्ञानपरिणाम, वह केवलज्ञान का कारण है; त्रिकाल निरावरण है, अमूर्त-अतीन्द्रिय है । आत्मा में ऐसा उपयोग वर्तमान है किन्तु वह आँखों से दिखाई नहीं देता, मन के विकल्प से भी वह ख्याल में नहीं आता; वह तो अंतर की सूक्ष्मदृष्टि का विषय है । ज्ञानी को उपयोग का स्वसन्मुख कार्य प्रगट होने पर उसके कारणरूप स्वभाव-उपयोग प्रतीति में आ जाता है ।

यहाँ स्वभाव उपयोग में कारण और कार्य—ऐसे दो भेद किये, किन्तु विभाव के कारण-कार्य की बात नहीं ली; क्योंकि विभाव का कारणपना सचमुच आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं; विकार का कोई ध्रुव आधार नहीं है । आत्मा की कार्यपर्याय में शुद्ध और अशुद्ध—ऐसे दो प्रकार होते हैं; किन्तु कारणपरिणति तो शुद्ध ही है, उसमें शुद्ध तथा अशुद्ध ऐसे दो प्रकार नहीं हैं । अहो ! शुद्धता का ही कारण होने का आत्मा का स्वभाव है; ऐसे स्वभाव को जाने तो उस कारण में से शुद्धकार्य प्रगट हुए बिना न रहे । कार्य जो केवलज्ञान, उसके कारण पर यहाँ जोर देना है; उस कारण पर जोर देते हुए बीच में साधकदशा में मति-श्रुतादि सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है; किन्तु यहाँ तो ध्रुव-कारण पर जोर देना है; इसलिये उसकी बात इस गाथा की टीका में नहीं ली । ऐसा टीका का मर्म है ।

यहाँ शुद्धकार्य और उसका कारण बतलाया । उस कारण का अवलम्बन करने पर शुद्धकार्य प्रगट होकर ही रहेगा । जीव में साधकदशा में चार ज्ञान प्रगट हो जाते हैं किन्तु साधक का जोर तो

त्रैकालिक एकरूप कारणस्वभाव पर ही है। कुमति-कुश्रुत और विभंग—यह तीन उपयोग मात्र विभावरूप हैं, वे तो अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि के ही होते हैं। पहले अज्ञानदशा में जब कारणस्वभाव का भान नहीं था, तब एकान्तविभावरूप उपयोग था, फिर कारणस्वभाव का भान होने पर साधकदशा में सम्यक्मति-श्रुतादि उपयोग प्रगट हुए, किन्तु साधक-धर्मात्मा की दृष्टि का बल तो एकरूप कारणस्वभाव पर ही है; उस कारण पर जोर देकर एकाग्र होने से केवलज्ञान हो जाता है।

इसप्रकार दसवीं गाथा पूर्ण हुई।

अब, जिसप्रकार जिनमन्दिर पर सुवर्ण कलश चढ़ाते हैं, उसीप्रकार टीकाकार इस गाथा पर एक कलश रखते हैं:—

अथ सकलजिनोक्तज्ञानभेद प्रबुद्धवा

परिहृतपरभावः स्वस्वरूपे स्थितो यः

सपदि विशति यत्तच्चिच्चमत्कार मात्रं

स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१७॥

कारणस्वभावज्ञान और कार्यस्वभावज्ञान आदि का बहुत वर्णन किया, उसे जानने का फल क्या, वह यहाँ बतलाते हैं—जिनेन्द्र कथित समस्त ज्ञान के भेदों को जानकर, जो पुरुष परभावों का परिहार करके निजस्वरूप में स्थित रहता हुआ शीघ्र चैतन्यचमत्कारमात्र तत्त्व में प्रवेश कर जाता है—गहराई में उतर जाता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का अर्थात् मुक्तिसुन्दरी का वल्लभ होता है।

यह कारणस्वभावज्ञान तथा कार्यस्वभावज्ञानादि भेद कहे वे कैसे हैं ?तो कहते हैं कि जिनेन्द्र कथित हैं। भगवान् सर्वज्ञदेव और उनके मार्ग के अतिरिक्त यह बात अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती। अपने स्वभाव उपयोग में जिन्होंने तीन काल, तीन लोक का पता लगा लिया है—सब प्रत्यक्ष जान लिया है—ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव ने ज्ञान के यह प्रकार जानकर कहे हैं। जो ऐसे वस्तुस्वभाव को जान ले, उसकी परभावों से भिन्नता और निज-स्वरूप में लीनता हुए बिना न रहे।

आत्मा के उपयोग में कार्यस्वभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान—ऐसे दो प्रकारों को जानकर जो पुरुष परभावों का परिहार करता है अर्थात् कारणस्वभाव के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भावों का अवलम्बन नहीं करता और निजस्वरूप में स्थिर रहता है—‘अहो! ऐसा मेरा कारणस्वभाव! ऐसी मेरी वस्तु! ऐसे स्वभाव से वस्तु की पूर्णता है!’ इसप्रकार वस्तुस्वभाव की

महिमा लाकर उसमें स्थिर होता है... स्वभाव की गहराई में उतर जाता है... कारणपरमात्मा में गहराई तक उतर कर एकदम लीन हो जाता है, वह जीव साक्षात् परमात्मा हो जाता है अर्थात् मुक्तिसुन्दरी का नाथ हो जाता है।

यह अपूर्व बात है। सर्वज्ञ के मार्ग का आश्रय लेकर जो समझे, उसी की समझ में यह बात आ सकती है।

आत्मा में यदि विसदृशरूप सापेक्ष उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें ही हों तथा सदृशरूप निरपेक्ष ध्रुवपरिणति (स्वभाव-आकार परिणाम, कारणशुद्धपर्याय) न हो तो वस्तु की पूर्णता वर्तमान में सिद्ध नहीं हो सकती। और यदि वर्तमान व्यक्तरूप विसदृश पर्यायें न हों तो साधकपना अथवा संसार-मोक्ष कुछ भी सिद्ध नहीं होता। इसलिये दोनों प्रकारों को जैसे हैं, वैसा जानना चाहिये। ज्ञान में मतिज्ञानादि विसदृश पर्यायें हैं तथा सदृश एकरूप कारणस्वभावज्ञान भी है और उसके अवलम्बन से केवलज्ञान विकसित होता है; ऐसे भेद जानना। उन्हें जानकर क्या करें? सर्वज्ञकथित उन भेदों को जानकर जो जीव परभावों को छोड़ता है तथा निजस्वभाव में एकाग्र होता है... अंतर्मुख होकर स्वभाव में गहरा... गहरा उतर जाता है, उसे मोक्षदशा विकसित हो जाती है। कारणस्वभाव में गहरा उतर गया, वहाँ केवलज्ञानरूपी कार्य प्रगट हो जाता है। देखो, इसमें त्रिकाली कारण, मोक्षमार्ग और मोक्ष, यह तीनों आ गये। ध्रुव कारण के आश्रय से जो मोक्षदशा हुई, वह सादि-अनंत मंगलरूप है।

— परम शरणभूत कारणस्वभाव-प्रदर्शक सद्गुरुदेव की जय हो!



वैराग्य समाचार

‘प्रवचन प्रसाद’ के तंत्री (संपादक) श्री अमृतलाल नरसी भाई सेठ सुरेन्द्रनगर में ता० २४-११-५६ के दिन हार्टफेल से स्वर्गस्थ हो गये। यह बात तार से सुनते ही मुमुक्षु जनों में शोक छा गया... प्रत्येक गाँव के मुमुक्षु मंडल में आघात का गहरा वातावरण छा गया है। और स्वधर्म वात्सल्यवन्त सद्गत अमृतलाल भाई का स्मरण होते ही आज भी हृदय गद्गद् हो जाता है।

भाई श्री अमृतलाल भाई को अंतिम दस बारह साल से पूज्य कानजी स्वामी के समागम में सतत परिचित रहकर तत्त्व समझने का ऐसा गहरा रंग लगा था कि—सात साल पहिले पति-पत्नि ने पूज्य गुरुदेव के समीप आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार की थी। और दिगम्बर जैनाचार्य कथित तत्त्वज्ञान पूज्य स्वामीजी जो निर्मलता से समझा रहे हैं, वह सर्वत्र प्रचार और प्रसार पाये; ऐसी उनकी महान भावना थी। इतना ही नहीं परन्तु इसके लिये आप तन, मन, धन लगाकर सब प्रकार से अथक प्रयत्न में सतत् प्रयत्नशील थे। छह-सात साल से ‘सद्गुरु प्रवचन प्रसाद’ दैनिक पत्र का प्रकाशन होता है, उसके आप संपादक (तंत्री) थे, और उस दैनिक-पत्र के लिये आप हमेशा पूज्य स्वामीजी का दोनों समय का व्याख्यान लिखकर प्रेस मैटर तैयार करना आदि कार्य में रात-दिन असाधारण श्रम करते थे। इसके अलावा जैनधर्म प्रचार के कार्य में बड़ी चाह से, जिनमंदिर प्रतिष्ठादि महोत्सव में; और बुलाने पर बाहर गाँव उपदेश के लिये; तथा मुम्बई जिनमंदिर के कार्यभार के विषय में; और अंतिम अभी पवित्र तीर्थाधिराज श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा संघ के प्रोग्राम और सभी व्यवस्था के विषय में बड़ी दिलचस्पी लगाकर प्रायः सभी कार्यवाही का वहन वे कर रहे थे। परन्तु आज इन सभी कार्यक्रम में आपका असह्य वियोग खटक रहा है। अब उनके वियोग में यह दैनिक पत्र बन्द होने की सम्भावना है।

उनकी वाचन शैली भी बहुत मधुर और शांत थी, जहाँ-जहाँ वे व्याख्यान करते थे, वहाँ पर सभी को प्रिय हो जाते थे। तत्त्व विचार में संलग्न रहते थे, अनुप्रेक्षारूप स्वाध्याय करते समय ही ता० २४-११-५६ के दिन हार्ट फेल से आपका स्वर्गवास हुआ। पूज्य स्वामीजी उन्हें—‘पंडितजी’ कहा करते थे, और ‘मूक सेवक’ कहकर उनका परिचय देते थे। कई बार कहा

करते थे कि—बड़ा पात्र जीव, प्रशंसनीय आत्मा हैं। आत्मारथी, वैराग्यवान, उदार और भक्तिवान हैं, घमंड इन्हें छू नहीं गया है आदि।

उनमें कर्मठता, प्रभावना का भाव, यात्रा के कार्यक्रम, तत्त्व जिज्ञासा और आगे नहीं आने का बड़ा गुण था—अहो! हरेक गाँव के मुमुक्षु मंडल ने उनके आकस्मिक-अवसान से भारी आघात का अनुभव किया है। यह समाचार सुनते ही, प्रथम तो सत्य है—ऐसा मानना कठिन था। हरेक मुमुक्षु मंडलवाले गाँवों से शोक समाचार के विषय में समवेदनापूर्ण तार व पत्र पर पत्र आ रहे हैं, लेकिन अनित्यता के प्राकृतिक नियम क्रम के आगे सच्चे समाधान सिवाय दूसरा कोई मार्ग नहीं है। इस प्रसंग के पहले दिन पूज्य गुरुदेव ने प्रवचन में [जो गुजरात प्रदेश में हो रहा था-] यह बात आई थी कि 'यह शरीर आज है, कल नहीं है; यह मनुष्य जीवन क्षणभंगुर है, उसमें देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व का सत्समागम से भान कर लेना—वही शरणरूप है।' उस समय यह किसे मालूम था कि दूसरे दिन ही ऐसी क्षणभंगुरता का उदाहरण श्री अमृतलालजी द्वारा मिलेगा? वास्तव में वस्तुस्थिति ही ऐसी है—दूसरा क्या उपाय?

स्व० आत्मा श्री अमृतलालजी ने अपने जीवन में पूज्य गुरुदेव के सत्समागम में रहकर अपनी आत्मा में अच्छे सुसंस्कार अंकित किये थे। उस संस्कार के बल से आगे बढ़कर आत्महित साधने की उनकी पवित्र भावना शीघ्र पूर्ण होवे। श्री सम्मेदशिखरजी तीर्थधाम की यात्रा की उनकी उग्र भावना भी पूर्ण हो। ४३ साल की आयु में १२ साल के अंतिम सत्समागम के बल द्वारा उन्होंने अपना जीवन सफल बनाया है और अन्य मुमुक्षुओं को भी उत्तम उदाहरण दे गये हैं—कि अल्प जीवन काल में भी बहुत धर्म विषयक साधन हो सकता है।

श्री अमृतलाल भाई के स्वर्गवास समय उनकी धर्मपत्नी श्री जया बहिन वहाँ ही पास में थीं, उन्होंने ऐसे महान आघात जनक समय में भी धैर्य-शौर्य और समभाव में वीरत्व रखकर अपने पति को सच्चे देव-गुरु-धर्म का शरण सुनाया था। भेद विज्ञान के पवित्र शब्द कानों में पहुँचाये थे। हमेशा जिनेन्द्र पूजन के समय पति के साथ ही साथ रहकर और सत्समागम में रहकर आत्महित की भावनायें भाकर जया बहिन ने अपनी आत्मा में उत्तम संस्कार अंकित किये हैं। उसी के बल से ही वे इस दुःसह वियोग के समय बड़ा धीरज व शान्ति रख सकी हैं। यह सब ज्ञानी संतों के सत्समागम का प्रताप और प्रसाद है।

महान भाग्य से प्राप्त हुआ यह मनुष्य अवतार और इनसे भी महा दुर्लभ भाग्य से प्राप्त हुआ

ज्ञानियों का सत्समागम, उसमें ऐसा वैराग्यपूर्ण प्रसंग का उदाहरण लेकर आत्मारथी जीवों को शीघ्र आत्महित साध लेना चाहिये। महा वैराग्य के अवसर में संतों द्वारा सिखाई हुई वैराग्य भावना सभी को भाने योग्य है।

आतमराम अविनाशी आया एकाकी जो,
ज्ञान और दर्शनमय अपना-रूप जो,
बहिर भाव कछु स्पर्श न करता आत्म को,
सचमुच यह ज्ञायक वीर गणाय जो।
आतमराम ! तुम चेतो आतम हित में।



ज्ञान का स्वभाव और स्वज्ञेय की महिमा

एक ओर अपना आत्मा, वह स्वज्ञेय और दूसरी ओर लोकालोक के अनंत पदार्थ, वे परज्ञेय, और उन स्व-पर दोनों ज्ञेयों को जानने का ज्ञान का स्वभाव; तथापि स्वज्ञेय की महिमा महान है। अन्तर्मुख होकर स्वज्ञेय के ज्ञान पूर्वक ही परज्ञेयों का यथार्थ ज्ञान होता है; इसलिये स्वज्ञेय को जाननेवाली ज्ञान परिणति महिमावंत है... भगवती है।

[— श्री प्रवचनसार गाथा १२७ के प्रवचन से]

आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है, ज्ञान का स्वभाव जगत को—स्व-पर समस्त ज्ञेयों को जानने का है। जगत में जीव और अजीव समस्त पदार्थ उस ज्ञान के ज्ञेय हैं।

ज्ञेयों में यह जीवतत्त्व कैसा है? कहते हैं:—चेतनास्वरूप है। वह चेतना 'भगवती' है—अर्थात् महिमावन्त है, और आत्मा के सर्व धर्मों में वह भगवती चेतना व्याप्त है। जीवद्रव्य सदैव अविनाशी चेतनास्वरूप तथा चेतना की परिणति स्वरूप है।

पर से भिन्न और अपने शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद ऐसे शुद्ध आत्मद्रव्य को ज्ञेय बनाया, तभी ज्ञान सम्यक् हुआ। शुद्ध आत्मा को ज्ञेय बनाये बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता, और स्वज्ञेय के ज्ञान बिना परज्ञेय का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता।

ज्ञान का स्वभाव स्व-पर का ज्ञाता होने पर भी, जो ज्ञान अन्तरोन्मुख होकर स्वज्ञेय को तो जानता नहीं है और बाह्य में मात्र परज्ञेय को शरीर तथा रागादि को ही जानने में रुकता है तथा उन्हीं को ज्ञान का स्वरूप मानता है, वह मिथ्याज्ञान है, वह असर्वांश को सर्वांश मानता है। सबसे महान-महिमावन्त तो स्वज्ञेय है, उसके ज्ञान बिना परज्ञेयों का ज्ञान सच्चा नहीं होता।

ज्ञानस्वभाव स्वयं अपने स्वज्ञेय न हो, तब तक ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता विकसित नहीं हुई है। स्वभाव से तो सर्व जीव स्व-पर प्रकाशक ही हैं; सिद्ध से लेकर निगोद तक सर्व जीवों का स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव है, किन्तु अज्ञानी को उस स्वभाव की खबर नहीं है। यहाँ तो, जिसे अपने ऐसे चेतना-स्वभाव की खबर पड़ी और ज्ञान में अपने आत्मा को ज्ञेय बनाया, वहाँ भगवती चेतना परिणतिरूप निर्मल पर्याय प्रगट हुई। जिसने अन्तर्मुख होकर स्वतत्त्व को ज्ञेय नहीं बनाया, उसका ज्ञान, शरीरादि में और राग के विकल्प में अटका है और उतना ही अपने को मानता है—वह मिथ्याज्ञान है; वह ज्ञान, राग के कर्तृत्व में रुक गया है, उसका पर प्रकाशन भी सच्चा नहीं है; क्योंकि उसने पर प्रकाशन जितना ही ज्ञानस्वभाव को माना है, किन्तु ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव को नहीं जाना।

अंतर के ज्ञानस्वभाव को ग्रहण करे, तब तो केवलज्ञान प्राप्त करने का मार्ग बहुत ही संक्षिप्त है; किन्तु जीव अपने को जाने बिना बाह्य में ही भटकते हैं; इसलिये कहीं मार्ग नहीं सूझता। अंतर के अनुभव बिना अंत नहीं आ सकता। शास्त्र तो दिशा बतलाकर अलग हो जाते हैं, किन्तु अंतर में अपने अनुभव बिना अकेले शास्त्रों से मार्ग का पार नहीं आ सकता।

एक ओर भगवती चेतनास्वरूप भगवान् आत्मा, वह स्वज्ञेय और दूसरी ओर लोकालोक, वह परज्ञेय;—उन स्व-पर ज्ञेयों को जानना ज्ञान का स्वभाव है।

सामने तो लोकालोक अनेक ज्ञेय हैं, और यह आत्मा तो एक है;—तथापि लोकालोक के परज्ञेय को जाननेवाले ज्ञान की अपेक्षा आत्मस्वभावरूप स्वज्ञेय को जाने, वह ज्ञान की महिमा है। जिसे स्वज्ञेय का ज्ञान नहीं है, उसे परज्ञेयों का ज्ञान भी मिथ्या है। स्वज्ञेय की महिमा महान है; जो परिणति अन्तर्मुख होकर स्वज्ञेय को जाने, वह परिणति भी भगवती है—महिमावंत है। वह

भगवती चेतना ही मोक्ष का साधन है।

ज्ञान ने अन्तर्मुख होकर जहाँ अपने आत्मा को स्वज्ञेय बनाया, वहाँ शुद्ध आत्मा की उपलब्धि हुई और ज्ञानतत्त्व भी स्व-पर प्रकाशकरूप से यथार्थ परिणमित हुआ; आचार्यदेव ने उसे अभिनन्दन देकर उसकी प्रशंसा की है। अहो, जिस ज्ञान ने अन्तर्मुख होकर अपने आत्मस्वभाव को जाना, वह प्रशंसनीय है। अनादि से जो मात्र पर को और रागादि को जानने में रुकता था—उस ज्ञान में आकुलता का ही वेदन था; अब स्व-पर ज्ञेयों को भिन्न-भिन्न जानकर अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर उन्मुख होकर एकाग्र हुआ, वह ज्ञान अपूर्व आनन्द के अनुभव सहित है; इसलिये वह धन्यवाद का पात्र है। अनादिकाल से ज्ञान बाह्य में भटकता था, पर को ही अपना मानकर उसे जानने में रुकता था और स्वज्ञेय की (आत्मा) की खबर नहीं थी—उस ज्ञान में शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं थी; अब स्वज्ञेय और परज्ञेय के द्रव्य-गुण-पर्याय को पृथक्-पृथक् जानकर, पर से भिन्न अपने स्वद्रव्य को ज्ञान का ज्ञेय बनाकर उसमें पर्याय को लीन किया, वहाँ शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति हुई—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य हुए।—ऐसी अपूर्व शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति हुई, वह अभिनन्दनीय है।



रे जीव!

भीषण नरक गति में, तिर्यच गति में और कुदेव गति में तथा मनुष्य गति में
शुद्ध आत्मा की भावना बिना तूने तीव्र दुःख पाये; इसलिये अब तो तू 'जिनभावना'
भा.... जिससे तेरे संसार परिभ्रमण का अंत आये।



‘अरे जीव! अब तो जिनभावना भा’ भीषण भवदुःख से बचने का उपाय

[पूज्य गुरुदेव का वैराग्यपूर्ण प्रवचन]

[अरे जीव! शुद्ध आत्मा की भावना बिना अनंतबार द्रव्यलिंग धारण करने पर भी तूने चार गति के घोर दुःख ही पाये। एकमात्र ‘जिनभावना’ ही चार गति के घोर दुःखों से बचाने वाली है। इसलिये हे जीव! अब तो तू जिन भावना भा कि जिससे पुनः स्वप्न में भी ऐसे दुःख न हों और परम आनन्दरूप सिद्धपद की प्राप्ति हो।— ऐसा संतों का उपदेश है।]

यह ‘भाव-प्राभृत’ की वचनिका हो रही है, उसमें ‘भाव’ अर्थात् क्या? यहाँ भाव अर्थात् मोक्ष के कारणरूप भाव कौन से हैं, उसकी बात है। आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करना, वह भाव है और वह भाव ही मोक्ष का कारण है। आचार्यदेव कहते हैं कि:—

हे शिवपुरी के पथिक! प्रथम तू भाव को जान। भावरहित द्रव्यलिंग से तुझे क्या प्रयोजन? उससे कोई सिद्धि नहीं है। सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को ही मोक्ष का कारण जानकर, उसकी प्राप्ति का उद्यम कर; क्योंकि मोक्षपुरी का पन्थ जिनेन्द्रदेव ने प्रयत्न साध्य कहा है।

हे जीव! संसार-भ्रमण करते हुए तूने अनंतबार द्रव्यलिंग धारण किया, तथापि तुझे कोई सिद्धि नहीं हुई; शुद्धभाव के बिना तू चार गतियों में परिभ्रमण ही करता रहा है। हे सत् समझने की जिज्ञासावाले सत्पुरुष! तू सुन! आत्मा के भान बिना अनंत बार द्रव्यलिंग धारण करके भी तूने मिथ्यात्वादिक भावों को ही भाया है, किन्तु सम्यक्त्वादि शुद्धभावों को कभी एक क्षण भी नहीं भाया; उस सम्यग्दर्शन के बिना तेरी कुछ भी सिद्धि नहीं हुई; इसलिये अब तो शुद्धभावों को पहिचानकर उनकी भावना कर।

भाई! तेरी वस्तु भीतर है, तेरे आनन्द के निधान तेरी वस्तु में हैं; उस अन्तर में तो दृष्टि कर। दृष्टि डालते ही तू निहाल हो जाये, ऐसी वस्तु भीतर पड़ी है। उसके सिवा बाह्य लक्ष्य से अनन्तबार राग की मंदता की, किन्तु तेरे हाथ में कुछ नहीं आया।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि:—

यम नियम संयम आप कियो,
पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो,
बनवास लह्यो मुखमौन रह्यो,
दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो



सब शास्त्रन के नय धारि हिये,
मत मन्दन खन्दन भेद लिये;
वह साधन बार अनन्त कियो,
तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो;
अब क्यों न विचारत है मन से,
कछु और रहा उन साधन से?

आत्मा को भूलकर मिथ्या भ्रान्ति से बाहरी अन्य सब साधन किये, किन्तु वास्तविक साधन जो शुद्धभाव है, वह कभी एक क्षण भी प्रगट नहीं किया; अरे! उसकी पहिचान भी नहीं की। राग की मन्दता करके उसी को साधन मान लिया, किन्तु राग से पार ऐसे शुद्धभाव का एक क्षण भी सेवन नहीं किया। मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप वस्तु हूँ—ऐसे अन्तर्मुख प्रयत्न के बिना, हे जीव! तूने रागादि की भावना अनन्त बार भायी, बाह्य त्याग किया तथा कषायों की मन्दता करके द्रव्यलिङ्गी साधु भी तू अनन्तबार हुआ, किन्तु चिदानन्दस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और रमणतारूप शुद्धभाव के बिना तेरा संसार-भ्रमण दूर नहीं हुआ और चार गति में भीषण दुःख ही भोगे। इसलिये अब तो उन दुःखों से छूटने के लिये 'जिनभावना', भा!—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

भीसण णरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगईए।

पत्तोसि तिव्वदुक्खं भावहि जिनभावणा जीव!॥८॥

भीषण नरकगतौ तिर्यग्गतौ कुदेवमनुष्यगत्योः।

प्राप्तोसि तीव्र दुक्खं भावयं जिनभावना जीव!॥८॥

(कुन्दकुन्दाचार्यदेव की यह गाथा श्रीमद् राजचन्द्रजी के लेखों में भी आती है।)

हे जीव! अपने आत्मा के शुद्धभाव को तूने पूर्वकाल में कभी नहीं पहिचाना और न उसकी भावना भायी। 'जिनभावना' के बिना अर्थात् शुद्ध आत्मा की भावना के बिना चार गति के भीषण

दुःख अनन्तबार सहन किये, इसलिये अब तू जिनभावना भा ।

अरे जीव ! नरकगति के ऐसे भीषण दुःख कि जिनका वर्णन सुन कर भी थर्रा उठते हैं—तूने शुद्धभाव के बिना अनन्तबार सहे । इसलिये अब तो तू जिनभावना भा कि.... मैं शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ, आनन्द से परिपूर्ण हूँ... बाह्य में कुछ भी मेरा नहीं है—इसप्रकार स्वभाव की भावना कर... उसकी रुचि कर, उसकी प्रीति कर... बारम्बार उसका अभ्यास कर... जिससे तेरे भव-दुःख का अंत आ जाये ।

हे जीव ! भयंकर नरकगति में तथा तिर्यचगति में तथा कुदेव और कुमनुष्यगति में अनादिकाल से तूने घोर दुःख पाये,—क्यों ?—क्योंकि राग की और संयोग की भावना भायी किन्तु जिनभावना नहीं भायी । इसलिये अब तो तू जिनभावना अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना भा—कि जिससे चारगति के घोर दुःख दूर होकर तुझे सिद्धपद की प्राप्ति हो ।

यहाँ जिनभावना भाने को कहा, उसमें मोक्षमार्ग आ जाता है । जिन अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा; उन जैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है—ऐसी श्रद्धा तथा ज्ञान करके उसमें एकाग्रता करने का नाम जिनभावना है । जिनेन्द्र भगवान भी पूर्वकाल में ऐसी भावना भाकर परमात्मपद को प्राप्त हुए हैं । किसी संयोग या रागादि की भावना से परमात्मपद हो—ऐसा नहीं है, किन्तु जिनभावना अर्थात् शुद्ध आत्मा की वीतरागी भावना ही परमात्मपद का उपाय है । इसलिये हे परमपद के अभिलाषी जीव ! तू ऐसी जिनभावना भा । ‘जीव सो जिनवर और जिनवर सो जीव’—जीव और जिनवर के स्वभाव में परमार्थतः कोई अन्तर नहीं है;—ऐसे अपने स्वभाव की पहिचान करके उसकी भावना करना, वह जिनभावना है तथा वही मुक्ति का मार्ग है ।

आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीव ! तूने पूर्वकाल में अन्य विपरीत भावनाएँ भायीं और उससे तूने घोर दुःख पाये; किन्तु जिनभावना कभी एक क्षण भी नहीं भायी ।

“अनंत सौख्य नाम दुःख त्यां रही न मित्रता!!

अनंत दुःख नाम सौख्य, प्रेम त्यां विचित्रता!

उघाड़ न्याय नेत्र ने निहाल... रे... निहाल तू,

निवृत्ति शीघ्रमेव धारि ते प्रवृत्ति बाल तूँ।”

(श्रीमद् राजचन्द्र)

अरे जीव ! नरकादि के दुःख, जिनका पार नहीं है—ऐसे दुःख, मिथ्यास्वभाव से तूने

अनंतबार भोगे, तथापि वहाँ अभी भी तू मित्रता मानता है... और वहाँ से विमुख नहीं होता, यह आश्चर्य है! और चिदानन्दस्वभाव की भावना में अनंत सुख है, तथापि तू उसकी मित्रता नहीं करता—उसकी भावना क्षणमात्र भी नहीं भाता; अरे मूढ़! यह तेरी कैसी विचित्रता है!! आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में अतीन्द्रिय आनन्द का अनंत सुख है किन्तु वहाँ तो तुझे प्रेम नहीं आता, अरुचि लाता है, दुःख मालूम होता है; और मिथ्याश्रद्धादि भावों में अनंत दुःख है, तथापि वहाँ तू प्रेम करता है—उसमें तुझे सुख मालूम होता है—यह कैसी विचित्रता!! अरे जीव! अब तो अपने ज्ञाननेत्रों को खोल... अपने ज्ञान चक्षुओं को खोलकर देख तो सही कि काहे में तेरा सुख है और काहे में दुःख? मिथ्याभाव के कारण ही तूने अनंत दुःख पाया है—ऐसा जानकर, हे जीव! तू उन मिथ्याभावों से निवृत्त हो... निवृत्त हो... उनसे शीघ्र ही निवृत्त होकर अब तो सम्यग्दर्शनादि भावों की भावना कर... अब तो जिनभावना भा! प्रभु! तेरा आनन्द अंतर में भरा है, उसमें तो दृष्टि कर। चैतन्य की भावना बिना तूने चारों गतियों में भीषण दुःख भोगे हैं, इसलिये अब तो तू आत्मतत्त्व की भावना भा—जिससे तेरा संसार-भ्रमण दूर हो। इस भावना के बिना अन्य किसी उपाय से तेरा भीषण भव-दुःख नहीं मिट सकता।

संसार के दुःखों से थककर उनसे मुक्त होने का अभिलाषी जीव जब मुनिपना लेने के लिये तैयार होता है, तब अपने कुटुम्बीजनों से विदा होते समय कहता है कि—हे माता! तू अब हमारी अन्तिम माता है... अब हमें पुनः इस संसार में अवतरित नहीं होना है... हे माता! मुझे आज्ञा दे। हे जननी! तू इस शरीर की जननी है... मेरे आत्मा की जननी तू नहीं है—ऐसा जानकर मोह को छोड़ और मुझे आज्ञा दे। अब मैं आनन्द के जन्मदाता ऐसे अपने आत्मा के पास जा रहा हूँ।—इसप्रकार जब दीक्षा के समय अनुमति लेने जाते हैं, तब महावैराग्य में लीन होकर सबको समझाते हैं। मृत्यु के समय जीव, देहादि छोड़कर चला जाता है किन्तु यह तो जीवित ही सबसे ममत्व तोड़कर चैतन्य की भावना में जाते हैं। अरे! चैतन्य भगवान की प्रीति छोड़कर इस अनित्य शरीर और संयोगों की प्रीति से अनंतकाल चार गतियों के दुःख भोगे, अब उनसे बस होओ!... अब इन अनित्य शरीरादि की प्रीति तोड़कर नित्य स्थायी रहनेवाले ऐसे अपने चैतन्य से प्रीति कर ली है।—इसप्रकार हे जीव! एकबार तो भेदज्ञान करके तू जिनभावना भा। उस भावना से तेरे भव-दुःख का अन्त आयेगा और तुझे मोक्ष सुख की प्राप्ति होगी।

जिसे जिसकी रुचि हो, वह उसी की भावना बारम्बार भाता है। जिसे आत्मा के आनन्द की

सच्ची रुचि जागृत हो, वह बारम्बार आत्मा की भावना भाता है... और आत्मानन्द प्राप्त करके ही रहता है। जिसे जिसकी पहिचान या रुचि न हो, वह उसकी भावना कहाँ से लायेगा ? हे भाई ! यदि तुझे सचमुच आनन्द की आवश्यकता हो... और इस संसार के घोर दुःखों से छूटना हो तो आचार्यदेव कहते हैं कि तू जिनभावना भा। भगवान् जैसा ही तेरा आत्मा ज्ञान और आनन्द शक्ति का सागर है; अंतर की दृष्टि द्वारा उसे पहिचानकर उसमें से जितने ज्ञान और आनन्द निकालना चाहे, उतने निकल सकते हैं; इसलिये उसे पहिचानकर उसकी भावना भा। अन्य सब भावनाएँ छोड़कर एक शुद्ध आत्मा की ही भावना भा।

आत्मा की भावना के बिना तूने अनादिकाल से संसार में चार गति के दुःख पाये, इसलिये हे जीव ! अब तू जिनेश्वरदेव की शरण ले, और जिनेश्वरदेव कथित शुद्धस्वरूप का बारम्बार भावनारूप अभ्यास कर, ताकि संसार-भ्रमण से रहित ऐसे मोक्षपद की प्राप्ति हो;—ऐसा उपदेश है। इसके सिवा अन्य कोई उसे शरणरूप नहीं है। कहा है कि:—

“सर्वज्ञो धर्म सुशर्ण जाणी,
आराध्य! आराध्य! प्रभाव आणी;
अनाथ एकान्त सनाथ थाशे,
अेना बिना कोइ न बाह्य स्हाशे।”

[— श्रीमद् राजचन्द्र]

प्रभु ! तेरे आनन्द का भण्डार तेरे ही भीतर भरा है, उसे अन्तर्दृष्टि द्वारा शोध। भाई ! अपने शुद्धस्वरूप का बारम्बार श्रवण, मनन, अभ्यास और भावना करके उस ओर उन्मुख हो जा। अनादिकाल से अपने ज्ञान की उन्मुखता तूने बाह्य में की, इसलिये दुःखी हुआ... अब अपने परम शुद्धस्वरूप को लक्ष में लेकर उस ओर अपने ज्ञान को उन्मुख कर तो तुझे परम आनन्द का अनुभव होगा। जिनेश्वरदेव ने तेरा जो वास्तविक स्वरूप कहा है, उसकी तू शरण ले; स्वभाव की भावना भा, बारम्बार पुनः पुनः उसका परिचय और अभ्यास कर,—जिससे तेरा संसार भ्रमण दूर होकर तुझे मोक्ष की प्राप्ति हो।—ऐसा संतों का उपदेश है।

हे जीव ! तू जिन भावना भा। जिन भगवान् के आत्मा का जैसा शुद्ध स्वरूप है, वैसा ही शुद्ध मेरा स्वरूप है और इसके सिवाव अन्य कोई मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसी भावना भा। इसे जिन भावना कहो, या शुद्ध आत्मा की भावना कहो; यह भावना भवनाशिनी है; यह भावना भाने से भव का

अभाव होता है और परम आनन्दस्वरूप मोक्षपद की प्राप्ति होती है। इसलिये यह भावना भाने का उपदेश है।

अरे जीव ! तेरा आत्मस्वभाव आनन्द से परिपूर्ण है; किन्तु उसकी भावना छोड़कर तूने चार गति के भीषण दुःख अभी तक भोगे... अब तो अपने आनन्दस्वभाव को याद कर। बाह्य भाव कर-करके अनन्त काल दुःख भोगा, अब तो उनसे विमुख हो। बाह्य भावों को भूल जा और अंतर के स्वभाव को याद कर। तू किसी भी संयोग में हो... किसी भी देश में जा... अथवा चाहे जिस काल में हो... किन्तु अपने शुद्ध आत्मा की भावना बिना तुझे कहीं भी सुख नहीं हो सकता। अपने आत्मा के शुद्धभाव (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) ही तुझे सुखदाता हैं, अन्य कोई सुखदाता नहीं है।

अरे, आत्मा की अभानदशा में चार गति में तूने कैसे-कैसे दुःख सहन किये-उन्हें तो याद कर ! अरे भाई ! चैतन्य की भावना के बिना तूने ऐसे तो अनन्तानंत दुःख भोगे कि वे वचन द्वारा नहीं कहे जा सकते... बस ! वे तो तूने भोगे... और केवलज्ञानी भगवान ने जाने। तूने बहुत दुःख भोगे... भाई ! अब हद हो गई। आत्मा की भावना नहीं भायी, इसलिये तूने ऐसे दुःख भोगे... इसलिये अब तो आत्मा की भावना भा... आत्मा के स्वभाव में आनन्द है, उसकी भावना भा... ताकि पुनः स्वप्न में भी ऐसे दुःख न हों... और परम सिद्धपद की प्राप्ति हो।

—ऐसा करुणापूर्वक संतों का उपदेश है।

घोर संसार-दुःखों से छुड़ानेवाले संतों को नमस्कार।

[श्री भावप्राभृत गाथा ७-८ के प्रवचनों से]



आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?

[श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में आचार्यदेव ने ४७ नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट-अपूर्व प्रवचनों का सार]

‘हे भगवान ! आत्मा कौन है और कैसे उसकी प्राप्ति होती है ?’—ऐसा आत्मार्थी शिष्य पूछता है; ऐसे शिष्य पर परम अनुग्रह करके आचार्य भगवान आत्मा का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय समझाते हैं:—

(४६) अशुद्धनय से आत्मा का वर्णन

अशुद्धनय से देखने पर, घट और रामपात्र की विशिष्ट मिट्टी मात्र की भाँति, आत्मद्रव्य सोपाधि स्वभाववाला है ।

जिसप्रकार मिट्टी में घड़ा, रामपात्र आदि अवस्थाएँ होती हैं, वह उसका एकरूप भाव नहीं है, उस अपेक्षा से वह उपाधिभाव है; उसीप्रकार आत्मा की अवस्था में जो विकारी भाव होते हैं, वह उसका एकरूप स्वभाव नहीं किन्तु उपाधिभाव है—अशुद्ध है । पुद्गल में तो घड़ा आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती रहती हैं—ऐसा उसका स्वभाव है; किन्तु आत्मा की पर्याय में जो अशुद्धता होती है, वह सदैव होती रहे—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है; यानी अशुद्धता उसका स्थायी स्वभाव नहीं है किन्तु उपाधिभाव है । तथापि उस उपाधिभाव को भी एक समयपर्यंत की पर्याय में आत्मा ने धारण कर रखा है, इसलिये वह भी आत्मा का एक धर्म है, और उस धर्म की अपेक्षा से देखने पर आत्मा सोपाधि स्वभाववाला है । यहाँ ‘सोपाधि स्वभाव’ कहा, उसे त्रिकाली स्वभाव नहीं समझना, किन्तु वह अशुद्ध पर्याय जितना क्षणिक स्वभाव है । ज्ञानी जानते हैं कि यह अशुद्धता है और मेरी पर्याय में होती है, इसलिये अशुद्धनय से मैं उपाधिवाला-अशुद्ध हूँ ।

ध्यान रहे, कि यहाँ अशुद्धनय से आत्मा का वर्णन करते हैं । उसमें भी शुद्धचैतन्यमात्र आत्मद्रव्य की दृष्टि कराने का ही तात्पर्य है ।—किसप्रकार ? देखो, यह अशुद्धनय से अशुद्धता दिखाई देती है, वह तो एक क्षणिक धर्म है और आत्मद्रव्य तो एक साथ अनंत धर्मोंवाला है; अनंत धर्मों को स्वीकार करते हुए शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा की दृष्टि हुए बिना नहीं रहती; इसलिये यह

अशुद्धनय भी उसी को होता है जिसकी दृष्टि शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा पर हो। 'अशुद्धनय' वह स्वयं कहीं अशुद्धता नहीं है, वह स्वयं तो श्रुतज्ञान का एक निर्मल पक्ष है।

आत्मा में अनंत धर्म हैं, उनके लक्षपूर्वक साधक जीव उपाधिधर्म को जानता है; अशुद्धतारूप क्षणिक उपाधिधर्म के समय ही मेरे आत्मा में शुद्धस्वभावरूप निरुपाधिक धर्म भी साथ ही है—ऐसा साधक जानता है; इसलिये अशुद्धनय से उपाधि को जानते समय निरुपाधिक स्वभाव का भी उसके अंशतः परिणमन वर्तता है। साधक के अकेली अशुद्धता ही परिणमित नहीं होती, अशुद्धता के समय अंशतः शुद्धता भी साथ ही रहती है और उसी के सम्यक् अनेकान्त तथा नय होते हैं। जिस जीव को अपने में मात्र अशुद्धता का ही परिणमन भासित होता है और शुद्धता किंचित्मात्र भासित नहीं होती, उसके तो ऐसा अशुद्धनय भी नहीं होता; वह तो मिथ्यादृष्टि है; मिथ्यादृष्टि को एक भी नय सच्चा नहीं होता।

विकार की जो उपाधि है, वह भी जीव की वर्तमान पर्याय का स्वभाव है; अशुद्धनय से देखने पर आत्मा उस उपाधियुक्त दिखाई देता है। राग से धर्म होता है, व्यवहार के आश्रय से निश्चय होता है—ऐसी मिथ्या मान्यता का भाव तो अज्ञानी का उपाधि भाव है। मिथ्या मान्यता दूर होने के पश्चात् अस्थिरता से जो क्रोधादि भाव होते हैं, वह भी उपाधि भाव है। वह उपाधि भाव भी आत्मा में होता है—ऐसा ज्ञानी अशुद्धनय से जानते हैं। यहाँ नय की बात है; नय ज्ञानी के ही होते हैं और मिथ्यात्व का उपाधिभाव उसके नहीं होता। मिथ्यात्व के अतिरिक्त जो रागादि उपाधिभाव होते हैं, वे किसी पर के कारण नहीं किन्तु अपनी पर्याय का वैसा स्वभाव है—ऐसा धर्मी जानता है। द्रव्य के शुद्धस्वभाव के ज्ञानपूर्वक वह पर्याय की अशुद्धता को जानता है। आत्मा की पर्याय में जो विकारी भाव होते हैं, वह उसका एकसमय का उपाधिभाव है; वह उपाधिभाव पर में नहीं है और न पर के कारण है, किन्तु आत्मा की पर्याय का वैसा धर्म है। उपाधिभाव होने का धर्म यदि आत्मा का अपना न हो तो दूसरे अनंत परद्रव्य एकत्रित होकर भी उसमें उपाधिभाव की उत्पत्ति नहीं करा सकते। निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक का जो उपाधिभाव-विकारभाव-उदयभाव-संसारभाव है, उसे उस-उस पर्याय में आत्मा स्वयं धारण कर रखता है, इसलिये अशुद्धनय से वह भी आत्मा का धर्म है; वह त्रिकाली स्वभाव नहीं है और न पर के कारण है। लक्ष्मी-शरीर-स्त्री-पुत्र-घरबार-दुकान आदि परवस्तुओं की उपाधि आत्मा में नहीं है; आत्मा पर की उपाधिवाला नहीं है, किन्तु अपनी पर्याय में जो विकार होता है, उस विकार की उपाधिवाला आत्मा

है। 'उपाधि' कहते ही यह बात उसमें आ जाती है कि वह स्थायी मूलस्वभाव नहीं है। पर्याय में एक समय की उपाधि है, किन्तु शुद्धनय से अन्तर्मुख स्वभाव को देखने से उसमें उपाधि नहीं है।—इसप्रकार दोनों पक्षों से आत्मद्रव्य को जानना और जानकर शुद्धता की ओर ढलना—उसका नाम धर्म है। त्रिकाल निरुपाधि ऐसा शुद्ध द्रव्य और क्षणिक उपाधिरूप अशुद्धता—दोनों की यथार्थ पहिचान होने पर, शुद्धद्रव्य की दृष्टि से पर्याय का उपाधिभाव दूर होता जाता है और शुद्धता बढ़ती जाती है।

अशुद्धनय से उपाधिस्वभाववाला है,—लेकिन कौन?—तो कहते हैं आत्मद्रव्य। वह आत्मद्रव्य कैसा है? एक साथ अनंत धर्मोंवाला है; आत्मद्रव्य सर्वथा अशुद्ध-उपाधिवाला-नहीं है, किन्तु अशुद्धनय के समय भी धर्मों को दूसरे शुद्ध पक्ष का ज्ञान वर्तता है। अनंत धर्मवाले शुद्ध आत्मद्रव्य के लक्ष से उपाधिस्वभाव का यथार्थ ज्ञान होता है; अकेली उपाधि के लक्ष से उपाधि का यथार्थ ज्ञान नहीं होता; किन्तु एकान्त अशुद्धनय हो जाता है।

उपाधिभाव एक समय की पर्याय का धर्म है; त्रिकालस्थायी रहे—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। यहाँ प्रमाण के विषय में द्रव्य-पर्याय दोनों का वर्णन है; इसलिये उपाधिभाव को भी आत्मा का स्वभाव कहकर उस पर्याय का ज्ञान कराया है। विकार को एक समयपर्यंत आत्मा ने स्वयं धारण कर रखा है; यदि उसे न जाने तो पूरी वस्तु का प्रमाणज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये सम्यग्ज्ञान नहीं होगा।

क्या पंचमकाल के कारण आत्मा में उपाधि है?—नहीं; पंचमकाल के कारण उपाधि नहीं है किन्तु जीव का ही वैसा धर्म है। देखो, संत ऐसा कहते हैं कि तेरा उपाधिभाव तेरे ही कारण है—पर के कारण नहीं है; तथापि जो जीव ऐसा नहीं मानता और पर के कारण उपाधि मानता है, वह वास्तव में भगवान की या संतों की आज्ञा नहीं मानता। पंचमकाल में जन्म लेनेवाला कोई जीव उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कर ले—ऐसा कभी नहीं हो सकता—लेकिन उसका कारण? कहीं पंचमकाल के कारण केवलज्ञान नहीं रुका है, किन्तु जीव की अपनी पर्याय में उसप्रकार के उपाधिभाव के कारण ही केवलज्ञान रुका है।

पुनश्च, जिसे नरकगति की आयु बंधी हो, उसे पंचम गुणस्थान नहीं आता; जुगलिया में, देवगति में या नरक में सम्यग्दर्शन होता है किन्तु व्रतादि नहीं होते—पंचम गुणस्थान नहीं होता। तीसरे नरक तक से निकलकर मनुष्य हुआ जीव ही तीर्थंकर हो सकता है, तत्पश्चात् चौथे नरक से

निकला हुआ जीव केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है किन्तु तीर्थंकर नहीं हो सकता; पाँचवें नरक से निकला हुआ जीव मुनिदशा प्राप्त कर सकता है किन्तु केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता; छठवें नरक से निकला हुआ जीव पाँचवें गुणस्थान की श्रावकदशा प्राप्त कर सकता है, किन्तु मुनिदशा प्राप्त नहीं कर सकता; सातवें नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य नहीं होता—ऐसा नियम है।—लेकिन उसका कारण ? क्या कर्म के अथवा पूर्व पर्याय के कारण वैसा होता है ?—नहीं; उन उन जीवों को उस पर्याय में ही वैसा उपाधिभावरूप धर्म है, और उस कारण ही उसके केवलज्ञानादि अटके हैं। सम्यक्त्वी जानता है कि मेरी पर्याय में ही ऐसा उपाधिभाव है, इसलिये केवलज्ञान, मुनिदशा अथवा श्रावकदशा अटकी है, किसी पर के कारण मेरी दशा नहीं अटकी है और न पर के कारण उपाधिभाव है। क्षणिक उपाधि के समय भी शुद्धनय से तो मैं निरुपाधिक शुद्ध स्वभाव हूँ—ऐसा भान धर्मी के दूर नहीं होता। पूर्वकाल के वैसे उलटे संस्कार हैं, इसलिये वर्तमान में उपाधिभाव है—ऐसा कहना, वह पूर्व पर्याय के उपचार का कथन है; वास्तव में तो वर्तमान पर्याय ही वैसे उपाधिस्वभावरूप से हुई है, इसलिये उस पर्याय का ही वैसा धर्म है। उसीप्रकार सिद्धदशा होने से ऊर्ध्वगमन होता है, वह पूर्व प्रयोग के कारण होता है—ऐसा कहना भी उपचार का कथन है; वास्तव में तो उसकी उस समय की पर्याय का ही वैसा ऊर्ध्वगमनस्वभाव है। वह ऊर्ध्वगमन-स्वभाव उपाधिभाव नहीं है किन्तु पर्याय का निरुपाधिक भाव है। धर्मी जीव अपनी पर्याय के उपाधि धर्म को जानता हो या निरुपाधिस्वभाव को जानता हो, किन्तु शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर से उसकी दृष्टि नहीं हटती।

—यहाँ ४६ वें अशुद्धनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।



(४७) शुद्धनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य शुद्धनय से केवल मिट्टी मात्र की भाँति निरुपाधि स्वभाववाला है। जिसप्रकार अकेली मिट्टी का पिण्ड पड़ा हो, वह केवल मिट्टी ही है; उसमें कोई उपाधि नहीं है; उसीप्रकार शुद्धनय से देखने पर आत्मा निरुपाधिक एक स्वभावी है, उसमें कोई उपाधि नहीं है। क्षणिक पर्याय में अशुद्धता है, उस अपेक्षा से उपाधि है, किन्तु सामान्य स्वभाव की अपेक्षा से आत्मा में उपाधि नहीं है। उपाधि के समय भी आत्मा में यह निरुपाधिक स्वभाव है। एक समय में आत्मा ऐसे अनेक धर्मोंवाला है। शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा को दृष्टि में लेना, वह इन सब धर्मों को जानने का फल है।

पर्याय में क्षणिक उपाधि है, उसी क्षण साधक को निरुपाधि शुद्ध स्वभाव का भान है, और पर्याय में भी अंशतः निरुपाधिकता प्रगट हुई है, इसलिये साधक के भी पर्याय में उपाधिपना और निरुपाधिकता—दोनों धर्म एक साथ परिणमित होते हैं। यदि ऐसा न हो और अकेली उपाधि ही हो तो एकान्त हो जाता है।

यहाँ अनेक प्रकार से आत्मा के धर्मों का वर्णन करके आत्मद्रव्य की पहिचान कराई है। यह समस्त धर्म आत्मा के अपने हैं, वे कोई पर के कारण नहीं हैं। गमन, स्थिरता, अवगाहना, परिणमन—वे सभी धर्म अपने हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल निमित्त हैं, किन्तु गति आदि धर्म कहीं निमित्त के नहीं हैं और न निमित्त के कारण हैं, वे तो अपने ही धर्म हैं।—इसप्रकार जो अनंत धर्मों को धारण करनेवाले स्वयं सिद्ध आत्मा को जाने, वह ज्ञान सम्यक् है।

भगवान् आत्मा अनंत धर्मों के पिण्डरूप शुद्धचैतन्यद्रव्य है; वचन से तो उसके अमुक धर्मों का वर्णन हो सकता है। यहाँ आचार्यदेव ने ४७ धर्मों द्वारा आत्मा का वर्णन किया है; उन धर्मों में जितने धर्म उपाधिरूप अर्थात् अशुद्धतारूप हैं, वे सिद्धदशा में नहीं होते और जो स्वाभाविक धर्म हैं, वे सब सिद्धदशा में भी होते हैं। सिद्ध भगवान् को कहीं नय से देखना नहीं रहा है, उन्हें कुछ साधना शेष नहीं रहा है; यहाँ तो साधक जीव स्वयं अपने आत्मा को प्रमाण और नय द्वारा साधता है, उसकी बात है।

जो शिष्य जिज्ञासु होकर आत्मा का स्वरूप समझना चाहता है, उसने पूछा था कि हे प्रभो ! यह आत्मा कौन है ?—ऐसे जिज्ञासु शिष्य को भगवान् आचार्यदेव ने प्रथम तो ऐसा बतलाया कि आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य द्वारा व्याप्त अनंत धर्मों का अधिष्ठाता एक द्रव्य है; वह श्रुतज्ञान—प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा ज्ञात होता है। इतना कहकर फिर ४७ नयों द्वारा आत्मा का स्वरूप समझाया। शिष्य को यह बात समझने की अभिलाषा है, इसलिये वह बेगार से नहीं सुनता किन्तु अंतर में आत्मा को समझने की आकांक्षापूर्वक सुनता है;—ऐसे शिष्य को यह समझाया है।

—यहाँ ४७ वें शुद्धनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

(अब, जो नय अपेक्षा सहित हैं, वे ही सम्यक् हैं, और अपेक्षा रहित एकान्त नय मिथ्या हैं—यह बात कहेंगे। तत्पश्चात् ‘शुद्धचैतन्यमात्र निज आत्मद्रव्य को अंतर में देखना ही तात्पर्य है’—ऐसा बतलायेंगे।—इसप्रकार आत्मद्रव्य का कथन पूर्ण करके फिर उसकी प्राप्ति का मार्ग कहेंगे।

एक... दो... तीन

१. स्वभाव सुखरूप है।
२. विभाव दुःखरूप है।
३. संयोग ज्ञेयरूप है।



—इन तीनों को यथार्थ जाने तो स्वभाव के आश्रय से सुख प्रगटे और दुःख दूर हो।

१. स्वभाव का सामर्थ्य है।
२. विभाव की विपरीतता है।
३. संयोग की पृथकता है।



—इन तीनों को यथार्थ जाने तो स्वभाव सामर्थ्य के आश्रय से पर्याय में निर्मलतारूप सामर्थ्य प्रगट हो और विभाव दूर हो।

१. स्वभाव उपादेय है।
२. विभाव हेय है।
३. संयोग ज्ञेय है।



—इसप्रकार उपादेय, हेय और ज्ञेय तीनों को जानकर उपादेयरूप स्वभाव का आदर करने से निर्मलता प्रगट हो जाती है, हेयरूप विभाव छूट जाते हैं और ज्ञान सामर्थ्य में सब ज्ञेय हो जाता है।

१. स्वभाव शाश्वत है।
२. विभाव क्षणिक है।
३. संयोग अपने में अभावरूप है।



—ऐसा जाने तो संयोग का लक्ष छोड़कर शाश्वत स्वभाव के लक्ष से पर्याय का क्षणिक विकार दूर हो और शुद्धता प्रगटे।

१. ज्ञायक स्वभाव कभी नहीं मिटता।
२. राग सदैव नहीं रहता है।
३. परवस्तु साथ नहीं आती।



—ऐसा जाने तो नित्य स्थायी ऐसे ज्ञायक स्वभाव का अवलंबन करे और राग दूर होकर असंयोगी सिद्धपद प्रगट हो।

[—चर्चाओं से]

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	111)	जैन बालपोथी	1)
श्री मुक्तिमार्ग	11=)	सम्यग्दर्शन	१ 11=
श्री अनुभवप्रकाश	11)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	111)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह	
समयसार प्रवचन भाग २	५ 1)	कपड़े की जिल्द	१ 1=)
समयसार प्रवचन भाग ३	४ 11)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	1)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	11)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ 1=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	‘आत्मधर्म मासिक’ लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	11-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-	
द्वितीय भाग	11-)	६-७-८-१० वर्ष	३ 111)

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ लेने
वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।